बाण भट्ट की आत्म कथा उपन्यास में धार्मिक चेतना

डॉ. योजना कालिया
हिन्दी विभाग,
विवेकानन्द कॉलिज, दिल्ली

सारांशिका

मनुष्य जब भी समाज में कोई न कोई कार्य करता है तब वह निश्चित रुप से सोचता है कि मैं अपने धर्म से न गिर जाऊँ जिसके कारण अपयश का भागी न बन जाऊँ। इसलिए धर्म मानव के आत्मिक उन्नयन का साधन है। मानव की प्रबुद्ध प्रज्ञा जीवन को निरर्थक एवं निरुद्देश्य प्राण प्रवाह मात्र न मानकर कुछ महान लक्ष्यों की पूर्ति में इसकी सार्थकता स्वीकार करती है। मनुष्य के द्वारा कुछ उच्च आदर्शों को अपनाकर अपने जीवन की सार्थकता के लिए किया जाने वाला विवेकपूर्ण आचरण ही धर्म कहलाता है। यही उसे समाज एवं राष्ट्र में उसे उन्नति दिलाता है। भारतीय धार्मिक परम्परा में अधिकारी भेद से साधना भेद के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। इसी सिद्धान्त के व्यापक आधार पर द्विवेदी जी व्यष्टि धर्म की व्याख्या करते हैं जिसके कारण प्रत्येक मनुष्य की अपनी पृथक –पृथक रुचि, क्षमता एवं विशेषता देखने को मिलती है। इसी लिए विशिष्ट स्वभाव के अनुरुप वरण किए गए जीवनादर्श की उपासना ही व्यक्ति के जीवन को सार्थक बनाती है। इस उपन्यास में अघोर भैरव का यह कथन इसकी पुष्टि करता है और दिखलाई पड़ता है–''देखो बाबा, इस ब्रह्माण्ड का प्रत्येक अणु देवता है।

मुख्य शब्द : आत्मकथा, धार्मिक, चेतना, उच्च आदर्श, प्रतिज्ञा।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास बाण भट्ट की आत्म कथा में धार्मिक चेतना का सही स्वरुप प्रदर्शित हो रहा है। वस्तुतः मानव जीवन की धार्मिक मान्यताएँ रही ना रही अनैतिक कार्यों से बचाती है। त्रिपुर सुन्दरी ने जिस रुप में तुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है, उसी की पूजा कर।''[1]यहाँ पर द्विवेदी जी की दृष्टि में ईश्वर ने मनुष्य को जो शक्ति प्रदान की है उसी का लोक कल्याण में निष्ठापूर्वक उपयोग करना ही धर्म है। इस सन्दर्भ में बाण भट्ट ठीक ही कहता है–''मैं अपने सत्य को ही आचरण में उतार सकता हूँ, सारे जगत के कल्याण को मैं चाहूँ तो भी अपने भीतर नहीं उतार सकता।''[2] यहाँ बाण भट्ट की सत्य निष्ठा प्रकट हो रही है। वह असत्य को नकार रहा है। इसलिए संसार की सभी कष्टों को दूर नहीं कर पायेगा। व्यक्ति की सहज प्रवृत्तियाँ उसके स्वभाव का परिचय कराती है। व्यक्ति का स्वभाव ही उसके स्वधर्म का निर्णायक होता है। इसलिए स्वभाव के विरुद्ध आचरण व्यक्ति का धर्म नहीं हो सकता बल्कि व्यक्ति अपनी प्रकृति के विरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होने के कारण ही विरतिवज्र की साधना अधूरी रह जाती है। अतः बाण भट्ट का जीवन स्व–भाव साधना को प्रदर्शित करता है। वह अलौकिक सिद्धियों में रुचिशील न होकर लोकहित साधना में ही अपने मन की सन्तुष्टि पाता है। उसकी इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर ही अघोर भैरव उसे तन्त्र–साधना में दीक्षित न करके अपने मार्ग पर ही दृढ़ रहने का परामर्श देता है जिससे वह जीवन में सफल जो जाए। गीता कर्म योग सिद्धान्त के अनुरुप कर्म फल की परवाह न करते हुए कर्तव्य पालन को ही महत्वपूर्ण द्विवेदी जी मानते हैं। बाण भट्ट की दुष्कर प्रतिज्ञा को अविवेक संगत मानकर चिन्तित होने वाली निपुणिका से भट्टिनी स्पष्ट कहती है–''तू शायद प्रतिज्ञा के सफल होने को बड़ी चीज समझती है। ना, बहन, प्रतिज्ञा करना ही बड़ी चीज है।''[3] वास्तव में आत्मा की नित्यता व कर्म फल के सिद्धान्त में आस्था रखने वाला मनुष्य परिणाम से भयभीत कैसे हो सकता है ? अर्थात् वह अपने उद्देश्य में सफल होकर ही लौटता है। इसलिए लेखक की दृष्टि से सत्य निष्ठा धर्म का महत्वपूर्ण अंग है। इसलिए अधूरा विश्वास मिथ्या चरण को जन्म देता हैऔर असत्य व्यक्ति को भयभीत बनाता है। इस ओर अघोर भैरव का कहना है कि–''डरना नहीं चाहिये। जिस पर विश्वास करना चाहिये, उस पर पूरा विश्वास करना चाहिये, चाहे परिणाम जो भी हो। जिसे मानना चाहिये उसे अन्त तक मानना चाहिये।''[4] यहाँ मनुष्य को विश्वास एवं आस्था पर पूर्ण भरोसा करना चाहिए जिससे वह विचलित ना होने पाए। मनुष्य को सत्य निष्ठा एवं ईमानदारी निर्भय बनाती है। कोई निर्भयता जीवन साधक की सबसे बड़ी शक्ति है। इस उपन्यास में अघोर भैरव के यह शब्द सर्वत्र सुनाई पड़ते हैं–''किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।''[5] बाण भट्ट इस मन्त्र को गाँठ बाँध लेता है। व्यापक लोक हित की तुला पर अपना कर्तव्य निश्चित करके तदनुकूल आचरण करने में वह सिझकता नहीं है। इस सम्बन्ध में यह विचार देखिए–''सामाजिक समस्याओं के स्थान पर प्रथम बार मानव के अर्न्तमन की परतों को समझने का प्रयास हुआ।''[6] भट्टिनी की प्राण रक्षा के लिए महावराह प्रतिमा को जल में विसर्जित करने का निर्णय तथा एकाकिनी मूर्च्छित – भट्टिनी के शिथिल वस्त्रों को ठीक करने के लिए अपने स्वाभाविक संकोच का परित्याग उसकी इसी निर्भयता–साधना को दर्शाता है। ऐसा कार्य वह बड़ी निर्भिकता एवं बिना संकोच के करता है। लोक कल्याण को ही लेखक धर्म की कसौटी मानते हैं। परम्परागत परम्पराएँ एवं नियमों का रुढ़ पालन ही धर्म नहीं है।

इस सम्बन्ध में कुमार कृष्ण वर्धन का कथन देखिए–'देखी सुनी बात को ज्यों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है।

सत्य वह है, जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है।''[4] सामान्यतया अन्तःपुरों में पुरुष का चौर्य प्रवेश अपराध माना जाता है, परन्तु मुख्य उद्देश्य के लिए बाण भट्ट का ऐसा आचरण अधर्म नहीं माना जा सकता क्योंकि निपुणिका भट्टिनी के उद्धार के लिए किए गए अपने राजद्रोह पूर्ण कृत्य को अधर्म नहीं मानती है। अतः समभक्त सही समय प्राप्त होने पर वाभ्रव्य कहता है–''जितने बन्धे बन्धाये नियम और आचार है, उनमें धर्म अटता नहीं। वह नियमों से बड़ा है, आचारों से बड़ा है। मैं जिनको धर्म समझता रहा, समय और सभी अवस्थाओं में अधर्म ही नहीं कहे जा सकते।''[8] कभी–कभी परिस्थितियाँ बदलने पर भी मान्यताएँ बदल जाती हैं। अन्यथा अधर्म बने रहने का दंश मनुष्य को कचोरता रहता है। धार्मिक सम्प्रदायों का उद्देश्य पृथक–पृथक रुचि के अनुसार ही उपासना के विविध मार्ग खोजता है। मनुष्य की साधना को सुगम, सुबोध एवं गतिमय बनाने के लिए सभी सम्प्रदाय कुछ विशिष्ट प्रतीकों एवं बाह्य आचारों का विधान करते हैं। मनुष्य भ्रमवश उपासना के इस बाह्य पक्ष के ही धर्म मान लेता है ऐसी मान्यता ही मिथ्याचार को जन्म देती है। बाण भट्ट की आत्म कथा उपन्यास में हर्षयुगीन बौद्ध साधना, कोल साधना एवं वैष्णव–साधना आदि अनेक साधन मार्गों के स्वरुप परिचय एवं रहस्य–विश्लेषण की परिस्थिति में धार्मिक मिथ्याचार का विरोध करती है। इसलिए अलौकिक सिद्धियों के लोभ में अन्ध विश्वास पूर्ण जड़ तान्त्रिक क्रियाओं में लिप्त रहने वाला द्रविड साधु भी ऐसे मिथ्याचार को बढ़ावा देता है जो नैतिक मर्यादाओं के विरुद्ध है।समाज की साधना पद्धतियों में वैष्णव भक्ति परम्परा लेखक की मानवतावादी दृष्टिकोण से अधिक अनुकूल बनाती है क्योंकि बौद्धों की नैरात्म्य साधना तथा शक्ति–तांत्रिकों की कौल साधना कुछ विशिष्ट साधकों के लिए ही उपयोगी हो सकती है किन्तु वैष्णव भक्ति साधना सभी को अच्छी लगती है। यह मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विरोध में नहीं बल्कि उदात्तीकरण में विश्वास रखती है। यह अनेक मनुष्यों को अंकिचन व असह्य को विश्वास विश्वास एवं आस्था सम्बल प्रदान करती है। महावराह के प्रति अटूट विश्वास ही निपुणिका और भट्टिनी को संकट की घड़ियों में भी उनका धैर्य बनाये रखता है। सुचरिता का जीवन तो भक्ति का स्वरुप ही है। वह सुख और दुःख दोनों को ईश्वर का प्रसाद मानकर स्वीकार करती है। जब मनुष्य अपने पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म सब कुछ नारायण को अर्पण कर देता है तब उसमें पाप कहाँ रह पाता है ? बल्कि वह निष्काम कर्म योगी की तरह फल के प्रति अनासक्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में स्पष्ट सुचरिता कहती है–''हाँ आर्य, नारायण ही इस नाव के कर्णाधार हैं। हम तो तूफान, को देखकर बेकार ही हाय–हाय करने वाले जीव हैं।'' अतः वैष्णव भक्ति साधना मानव मात्र को परमात्मा का रुप मानती है जिसमें लोकसेवा को नारायण की पूजा मानने वाला व्यक्ति जीवन की सार्थकता पा लेता है। वह सभी को लोक सेवा करने के लिए प्रोत्साहित करता रहता है जिससे समाज का प्रत्येक व्यक्ति सदकर्म से करता हुआ अपनी धार्मिक मान्यताओं का प्रकाश सभी तक पहुँचाए। ''अन्यथा–जीवन का गौर भूलकर हम अपने ही लीन हो जाते हैं जिसमें हम संसार को अपनी दृष्टि से देखते हैं और अपने ही भाव से ग्रहण करते हैं।''[8]

सन्दर्भ सूची :–

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी–बाण भट्ट की आत्म कथा–पृष्ठ–142
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी–बाण भट्ट की आत्म कथा–पृष्ठ–261
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी–बाण भट्ट की आत्म कथा–पृष्ठ–84
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी–बाण भट्ट की आत्म कथा–पृष्ठ–84
5. हजारी प्रसाद द्विवेदी–बाण भट्ट की आत्म कथा–पृष्ठ–90
6. डॉ. अनिता यादव–हिन्दी गद्यःउद्भव और विकास–पृष्ठ– 14
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी–बाण भट्ट की आत्म कथा–पृष्ठ–305
8. डॉ. प्रवीन भारद्वाज–हिन्दी गद्य–उद्भव और विकास–पृष्ठ–24